रघुवंश का मानव

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी

रघुवंश महाकवि कालिदास की उद्देश्य कृति है। इसकी रचना का उद्देश्य प्रगतिशील मानव का निर्माण है। रघु–शब्द गमनार्थक लघि धातु से निष्पन्न है। 'ल' का 'र' हो जाता है। 'कु' प्रत्यय कर्ता के अर्थ में होता है। अत: 'रघु' का अर्थ हुआ जाने में समर्थ। गम् धातु सकर्मक है, अत: व्याख्याकारों ने कर्म की कल्पना की है, किसी ने ज्ञान की सीमा को यहां कर्म माना है। यहां स्वयं कालिदास ने ज्ञानसीमा को तो कर्म माना ही शत्रुओं के अन्त को भी कर्म के रूप में प्रस्तुत किया। उनका पद्य है–

श्रुतस्य यादादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिव:।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्।। रघु. ३.२१

रघु के रथ की गति कहीं भी रुकती नहीं थी, न समुद्र में, न आकाश में और न पहाड़ पर। अर्थात् रघु के रथ की गति स्थल, जल और आकाश तीनों में समान थी। ऐसा इसीलिए कि महर्षि वसिष्ठ ने मंत्रों से उस पर अभ्युक्षण किया था–

वसिष्ठमंत्रोक्षणजात् प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य।। रघु. ५.२७

राजाओं के लिए कवियों का एक असाधारण विशेषण है निष्प्रतिघ। महर्षि वसिष्ठ की सूक्ष्म दृष्टि निष्प्रतिघ है, क्योंकि वह अतीतकाल में हो चुकी घटना और घटित तथ्य को भी प्रत्यक्षवत् देख लिया करती थी, वर्तमान काल में भी घटित हो रही वस्तुओं का उसे प्रत्यक्ष हो जाता था और भविष्य में होने वाली वस्तुओं का भी–

पुरुषस्य पदेष्वजन्मन: समतीतञ्च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।। रघु. ८.७८

अजन्मा पुरुष यानी परमेश्वर, उसके पद यानी चरण वे जहां–जहां घूमे अर्थात् त्रिविकम भगवान् के तीन पदाचार,एक आकाश में, एक पाताल में और एक पृथ्वी पर। उन तीनों लोकों में जो हो चुका है,जो हो रहा है, और जो भविष्य में होने वाला है– उस प्रत्येक पदार्थ या घटनाक्रम को महर्षि वसिष्ठ अपने ज्ञानमय और निष्प्रतिघ नेत्र से देख सकते थे। जैसी महर्षि वसिष्ठ की दृष्टि वैसी ही महान् वीर रघु के रथ की गति। दोनों में कहीं कोई रुकावट नहीं। समुद्रगुप्त के लिए हरिषेण ने ऐसा ही विशेषण अपनाया है। अप्रतिहत, एकध्वज, अनन्यशासन ऐसे ही विशेषण हैं। रघु ऐसा ही प्रतापी पुरुष था। उसके पिता राजर्षि दिलीप ने ९९ अश्वमेघ सफलतापूर्वक पूरे कर लिए थे। अन्तिम सौवें यज्ञ में अश्व की रक्षा में स्वयं रघु ही तैनात था, किन्तु उसके देखते–देखते यज्ञाश्व अलक्षित हो गया। अनहोनी घटना घट गयी और रघु विस्मय के महावर्त में घिर गया। जीता हुआ दाँव सम्राट् दिलीप हारने को थे। तभी तक दो अनहोनी घटनाएं और घट गयीं। एक तो यह कि महर्षि वसिष्ठ की जिस नन्दिनी गौ के वर से दिलीप को रघुपुत्र प्राप्त हुआ था। वह सामने उपस्थित दिखी। रघु ने उसके अंगनिष्यन्द गोमूत्र को आंखो में आँजा तो उसकी दृष्टि भी निष्प्रतिघ हो गयी और उसने देखा कि उसका यज्ञाश्व आकाशचारी रथ के पीछे बंधा है। उसे पूर्व दिशा की ओर ले जाया जा रहा है। रघु ने समझ लिया कि रथ देवराज इन्द्र का है तो उसने ललकारा। वे रुके और बोले 'शतक्रतु मैं ही हूं, यह कैसे संभव है कि मैं अपना यह विरुद छिन जाने दूं। तुम्हारे पिता इसे छीनने वाले थे, अत: मैंने अपने यश की रक्षा की और अश्व का हरण कर लिया।' रघु ने इन्द्र से युद्ध

किया। उसके वज्र को विफल कर दिया,किन्तु इन्द्र ने रघु से अश्व ले ही लिया। पुत्र से पिता हारा, परन्तु हार सिर आई पुत्र के ही। स्वर्ग के लिए हारा रघु अपवर्ग की ओर मुड़ा,जो सबसे बड़ा लाभ था। यह थी दूसरी अनहोनी, क्योंकि अब रघु के माता–पिता मुनिवनतरुओं की छाया में रह रहे थे। प्रजापालन का दायित्व पूरा कर पुत्र अज को उत्तराधिकारी नियुक्त कर स्वयं रघु योगसाधना में लग गए और योगसमाधि से प्राप्त हो गए – 'अव्ययभाव' को–

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।। रघु. ८.२४

कवि यहां भगवद्गीता के स्वर में बोला। महर्षि व्यास की वाणी सिद्ध वाणी थी। उन्होनें श्रीमद्भगवद्गीता में कहा था–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। १५.१६–१८

अर्थात् लोक में ये दो पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं एक क्षर और एक अक्षर। इनमें से क्षर तो बन गया पांचों महाभूत। जो अक्षर था वह भूतों के इस ढेर (कूट) के ऊपर विराजमान दिखाई दिया। किन्तु ये दोनों पुरुष थे, पुरुषोत्तम नहीं। जो उत्तम पुरुष है उसे कहा जाता है परम आत्मा–परमात्मा,जो तीनों लोकों में विद्यमान है और इस जगत्प्रपञ्च को धारण किए रहता है, उसी को कहा जाता है अव्यय पुरुष। मैं हूं परे दोनों से, क्षर से भी और अक्षर से भी। इसीलिए मुझे लोक और वेद दोनों पुरुषोत्तम नाम से पुकारते रहते हैं। रघु योगसमाधि से शरीर छोड़ते हैं। निश्चित ही वे अब पुरुषोत्तम हो चुके हैं। हमारे सीताचरित में माता सीता भी योगसमाधि में चली जाती है। उस योगसमाधि में जिससे लौटा नहीं जाता, अर्थात् अव्युत्थान समाधि में। तब उन्हें महर्षि वाल्मीकि भी प्रणाम करते हैं और महामुनि वसिष्ठ भी, भगवान् राम भी प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हैं और उपस्थित सैन्य, सचिव आदि भी। वे स्वयं को धन्य मानते हैं और कहते हैं कि सीता तीनों कुलों की प्रतिष्ठा है–

प्रतिष्ठेयं जाता निमि-रवि-महावंशयशसां
प्रतिष्ठेयं जाता युग–युगकृते भारतभुवः।
प्रतिष्ठेयं जाता श्रुतिमहति मार्गे कृतधियां
यदेषा देहेन स्थितिमधितमृत्युञ्जयभुवः।। सीता. १०.७१

समाधि में लीन माता सीता हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा आने वाले युगों के लिए भी है। जब समाधिस्थ सीता के दर्शन हुए तो कवि ने उन्हें राष्ट्र देवी भी कहा था–

सा कापि पत्नी पुरूषोत्तमस्य सा कालरात्रिर्दशकन्धरस्य।
भूर्जे हते स्थण्डिलमण्डलेऽस्मिन् राष्ट्रस्य देवी च पुनर्व्यलोकि।। सीता. ९.५४

संयोग से यहां राम भी पुरुषोत्तम कहे गए हैं। यह तो सीता की ही परिभाषा है।

योगसिद्धि शरीर में स्त्रीत्व और पुरुषत्व नहीं देखती, अतः पुरुष यदि योगसाधना से 'पुरुषोत्तम है, तो स्त्री भी पुरुषोत्तम ही कहलाएगी–

अगात् साधारण्यं तदनु तिसृषु व्यक्तिषु परं।
नरो नारी क्लीबं क्व नु दधति भेदं रसलये।। सीता. १०.७१

जब व्यक्ति रस में लीन हो गया तो न वह नर रहा और न नारी। यह रस आत्मरस है। भारतवर्ष इसका आदि है।

गर्भवती और आसन्नप्रसवा सीता को जब वन में छोड़ा गया तब गहनतम करुणा की स्थिति थी, भवभूति के उत्तररामचरित में। उत्तरसीताचरित में इस विषम क्षण को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया गया, क्योंकि यहां सीता के शरीर की नाडियां शुद्ध हो चुकी हैं। और 'सीता' के स्थूल शरीर पर स्वामित्व व अधिकार स्वयं सीता का है। वे अब गोस्वामी गो-इन्द्रियों की स्वामी हैं। गर्भ का ग्रहण,गर्भ का धारण और गर्भ का प्रसव इस प्रकार की माता के लिए कोई समस्या नहीं। इस प्रकार के नारी शरीर में जब अव्युत्थान समाधि लग जाती है तब उसे भूगर्भ में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। भूगर्भ में स्थान बनाया कवियों (वाल्मीकि) ने, तपस्वियों ओर मुनि (वसिष्ठ) आदि ने। यानी भारतमाता की संपूर्ण साधना ने। उसमें समाहित सीता, कवि के शब्दों में आज भी सजीव है, क्योंकि जब कभी आएगी विपत्ति इस राष्ट्र पर तब उसे भी शान्त करना इन माता सीता का लक्ष्य हैं। वे पुन: प्रकट होंगी । वे तो भारतमाता की गोद में झपकी ले रहीं हैं, वे पुन: जग जायेगीं–

सीता तस्मिन् स्वपिति पुनरप्यस्य विश्वस्य धर्म-
ग्लानि-ग्लान्यै श्रयितुमसकृद् देहबन्धं तमेव।। सीता. १०.७८

कालिदास ने नारी शरीर की योगसिद्धि का वर्णन कुमारसंभवम् महाकाव्य में माता पार्वती के शरीर में किया है। मृत्यञ्जय शिव ने पार्वती को तभी स्वीकार किया जब वे स्थूल शरीर से भी अमर बन गई। कुमारसंभव के पंचम सर्ग में कालिदास ने पार्वती द्वारा किया गया भूत–जय विस्तार–पूर्वक किन्तु सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया। पिता की आज्ञा लेकर पार्वती उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध गौरीशंकर–शिखर पर पहुंची, उन्होनें हार छोड़ा और धारण किए वल्कल, जटाएँ धारण कीं, मौञ्जी मेखला पहनी, रुद्राक्ष की माला हाथ में ली, सोना शुरू किया चबूतरे पर, वह भी बैठे–बैठे, लेटकर नहीं, विलास उन्होनें भुला दिया, पौधों को सींचना शुरू किया, हरिणशिशुओं को चारा खिलाया, हवन किया, वस्त्र पहने छाल के, पाठ किया महत्वपूर्ण साहित्य का, यह सब कितने दिन किया। उतने दिन जितने में बीजारोपण के बाद वृक्ष फलने लगता है। आगे अपने शरीर की चिन्ता छोड़ ग्रीष्म में पञ्चाग्नि तप किया, वर्षा खुले आकाश में तपोरत रहकर बिताई, नितान्त शीतल शीतलहरी को हेमन्त और शिशिर में कैसे सहा? पूष माघ की रात में गले–गले जल में खड़े रहकर। उन्हें अपर्णा नाम मिला, क्योंकि उन्होनें पहले तो स्वयं विशीर्ण (टूट कर गिरे) पत्ते खाए और फिर उन्हें भी छोड़ दिया (कु० ५.२.१) था। इसके पहले भी वे अपने आप आया जल ही लिया करती थीं। यहां तक बाद में उन्होनें उडुपति (चन्द्र) की रसपूर्ण किरणों से पिपासा शान्त कर लेने का अभ्यास कर डाला था। (कु० ५.२२) इस उपक्रम में भूतविजय ही मुख्य प्रतिपाद्य था। रघु को भूतों का जय गर्भ से ही प्राप्त था। उन्होनें शरीर छोड़ा योग समाधि से इसके पूर्व देवराज के अमोघ अस्त्र वज्र को सहकर मानवशरीर की असाधारण दृढ़ता का परिचय वे दे चुके थे। रघु के स्थूल शरीर के विषय में कालिदास ने कहा था–

युवा युगव्यायतबाहुरंसल: कपाटवक्षा: परिणद्धकन्धर:
वपु:प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत।। रघु. ३.३४

रघु युवा हो गया। यौवन उसमें दिखाई दे रहा था। उसकी भुजाएं लम्बी थीं, कन्धे खूब भरे हुए थे और

उसका वक्ष:स्थल कपाटफलक सा चौड़ा था। भगवती पार्वती की अगंयष्टि में भी चतुरस्र विकास अंकित कर कवि ने अपनी लेखनी को विश्राम दिया था। (कु. १.२५–४९)

स्थूल शरीर ही नहीं, मन से भी कालिदास का मानव प्रौढ़ है। पार्वती केवल शिव के लिए समर्पित है। रघु को भी चारों दिशाओं से इकट्ठी संपदा लुभा नहीं पाती। वह उस प्रभूत संपति का कण–कण दान कर देता है, उसके अपने पास रह जाते हैं मिट्टी के पात्र–

चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्।। रघु. ६.७६

कुश का प्रतापी पुत्र अतिथि ऋत्विजों को इतनी दक्षिणा देता है कि उसे अपर धनद (कुबेर) कहा जाने लगता है। (रघु १७.८०)। अर्थ और काम ही तो वे छिद्र हैं जिनसे नैतिक मूल्य धराशायी हुआ करते हैं। कालिदास का मानव इन दोनों में संयत और संतुलित दिखाई देता है। धर्म कालिदास के मानव का मुख्य मार्ग है। धर्म का विप्लव उसे असह्य है। धर्म का एक पक्ष तो है लौकिक अभ्युदय और दूसरा पक्ष है अपवर्ग यानी मोक्ष या मुक्ति। रघुवंश के अष्टम सर्ग में पिता रघु अपवर्ग की सीढियां चढ़ रहे है और पुत्र अज अभ्युदय की– (रघु. ८.१३–२५)

यतिपार्थिवलिंगधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ।। रघु. ८.१६–२५

स्वस्थ मानव कर्त्तव्य का पालन कर संसार से यदि मुक्त हो रहा है तो निश्चित ही वह अपने जीवन में चरितार्थ भी है, सफल तो है ही। रघु का रघुत्व इसी प्रकार की सर्वतोमुखी सफलता में या प्रगति में है।

रघु रघुवंश का नायक है। उसने ठीक शरीर पाया, ठीक मन, ठीक बुद्धि और ठीक योगसाधना। यही है कालिदास का पुरुषोत्तम उत्तम पुरुष, उत्तम और सफल मानव।।